

॥ अर्थ चतुर्थोऽध्यायः ॥

संयमशीलता-कर्तव्यपरायणता प्रकरण

तृतीये दिवसे सत्र आरण्यक ऋषिः स तु।

शृंगी पूर्व प्रसंगं तं स्मारयन्नाह्निकं ततः ॥ १ ॥

शृंगी उवाच

प्रास्तौषीत्स्वां नवीनां तां जिज्ञासा नतिपूर्वकम्।

का सा देवता यस्या नरस्तूपासनेन हि ॥ २ ॥

प्रत्यक्षं फलमाप्नोति सुखी भवति सोन्नतः।

महाप्राज्ञो पिप्पलादो जगाद मानवस्य हि ॥ ३ ॥

टीका—तीसरे दिन आरण्यक सत्र में शृंगी ऋषि ने पिछले दिन के प्रसंग का स्मरण दिलाते हुए अपनी नई जिज्ञासा नम्रतापूर्वक प्रस्तुत की। शृंगी ने पूछा, वह कौन सा देवता है जिसकी उपासना से मनुष्य प्रत्यक्ष फल पाता और सुखी समुन्नत बनता है। महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा ॥ १-३ ॥

व्याख्या—प्रज्ञासत्र के पहले दो दिनों में जो चर्चा हुई वह जीव को अपने आप में पूर्णता व ईश्वर जीव संबंधों के गूढ़

विवेचन से संबंधित थी। इस तत्त्वदर्शन का व्यावहारिक स्वरूप जानने की जिज्ञासा शृंगी ऋषि यहाँ प्रकट करते हैं।

पिप्पलाद उवाच

जीवनं देवता नूनं प्रत्यक्षमन्यदेवताः।

परलोके कृपां कुर्वन्त्यात्मनो जीवनं परम् ॥ ४ ॥

सुसंस्कृतं च सज्जं च कर्तुं चेत्क्रियते भृशम्।

उपासना ततस्तस्या लाभास्त्वस्मिन् हि जीवने ॥ ५ ॥

प्राप्यंते परलोकेऽपि संदेहो नाणुरप्यहो।

अत आवश्यकं यत्तज्जीवनं संस्कृतं भवेत् ॥ ६ ॥

टीका—मनुष्य का जीवन स्वयं ही प्रत्यक्ष देवता है। अन्य देवताओं की कृपा तो परलोक में मिलती है पर अपने जीवन को सुघड़, सुसंस्कृत बनाने की उपासना के लाभ तो इस जीवन में भी मिलते हैं, परलोक में भी। इसमें रत्ती भर संदेह नहीं। अतः जीवन को सुसंस्कृत बनाना आवश्यक है ॥ ४-६ ॥

व्याख्या—महाप्राज्ञ पिप्पलाद कहते हैं कि यह स्वाभाविक

१.२८ प्रज्ञोपनिषद्

है कि मनुष्य अध्यात्म विद्या की समुचित जानकारी होते हुए भी वह प्रतिफल न पा सके तो सहज ही अन्य मनुष्य व्यावहारिक ज्ञान के नाते पा लेते हैं। ईश्वर तो निराकार है। वे प्रेरणा भर देते हैं। उनकी उपासना—उनके समीप बैठने से क्या आशय है, इस असमंजस को खोलते हुए वे कहते हैं कि बिना शरीर धारण किए प्रत्यक्षतः कुछ देना संभव है भी नहीं, इसीलिए परमात्मसत्ता स्वयं जीवन देवता के रूप में विराजती है और साधना किए जाने पर समुचित परिणाम भी देती है। अन्य देवी-देवताओं की पूजा-उपासना के शस्त्रोक्त माहात्म्य तो परलोक में पुण्य प्राप्ति इत्यादि से संबंधित हैं पर जीवन में सुसंस्कारिता का समावेश मनुष्य को इसी जीवन में समृद्धि और सामर्थ्य के अनुदान देकर उसे धन्य बनाता है। मनुष्य अपने ही चर्म चक्षुओं से इन सत्परिणामों को जीवन में सार्थक होते देखता है। दर्शन में इसी देवता की अयमात्मा ब्रह्म कहकर उपासना की जाती है। ऐसे जीव ब्रह्म की साधना प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में फलित होती है।

शृंगी उवाच

सोत्सुकं ज्ञातुमैच्छत्स ऋषिः शृंगी कथं च सः।

देवो जीवनरूपी तु पूज्योऽभ्योऽर्त्यो विबोधय ॥ ७ ॥

उपचारः कोऽत्र ग्राह्यो यद् वरदानं ददातु सः।

प्रसन्नः कानि चैवायं वरदानानि यच्छति ॥ ८ ॥

उपेक्षया च रुष्टश्चेत्ततो हानिश्च कीदृशी।

आपतत्यपि, चेत्कुब्धो दुराचारफलेन सः ॥ ९ ॥

कस्याशंका ह्यनिष्टस्य महाभाग विबोधय।

मर्मप्रसङ्गमेतं तु विस्तरादृषिपुंगव ॥ १० ॥

विधेस्तस्य नहि ज्ञानं सर्वसाधारणस्य तु।

मर्मस्पर्शिनाऽनेन प्रश्नेन स ऋषीश्वरः ॥ ११ ॥

महाप्राज्ञः पिप्पलादः सगांभीर्यं जगाद च।

टीका—शृंगी ऋषि ने उत्सुकतापूर्वक जानना चाहा जीवन देवता की पूजा अभ्यर्थना कैसे की जाए? उसे वरदान देने के लिए प्रसन्न करने के निमित्त क्या उपचार अपनाया जाए? जीवन देवता प्रसन्न होने पर क्या वरदान देते हैं। उपेक्षा करने पर यदि वे रुष्ट होते हैं तो क्या हानि उठानी पड़ती है। यदि वे दुर्व्यवहार के फलस्वरूप क्रुद्ध हो उठें तो किस अनिष्ट की आशंका रहती है। हे महाभाग ऋषीश्वर इस मर्म प्रसंग को हमें विस्तारपूर्वक समझाएँ। उसके विधि-विधान की सर्व-साधारण को जानकारी है भी नहीं। मर्मस्पर्शी इस प्रश्न से वह ऋषिश्रेष्ठ महाप्राज्ञ पिप्पलाद गंभीर होकर बोले ॥ ७-११ ॥

व्याख्या—जिज्ञासु ऋषि जीवन देवता की उपासना की महत्ता महाप्राज्ञ के श्रीमुख से सुनकर अपनी उत्सुकता और भी गहन करते हैं। बिना नियम विधि और क्रम विधान जाने कैसे अनायास ही इस साधना को आरंभ कर दिया जाए? जन

साधारण को तो यह भी ज्ञात नहीं है कि ये देवता रुष्ट भी होते हैं व प्रसन्न भी। ऐसे में चूक कहाँ व किस प्रकार होती है, उससे कैसे बचा जाए, इसका समाधान लोकहित को दृष्टिगत रख पूछा जाना उचित ही है।

पिप्पलाद उवाच

जिज्ञासव इह शृंगियुता मान्या मनीषिणः ॥ १२ ॥

ध्यानेन श्रूयतां देवः जीवनं फलदायकः।

प्रत्यक्षं तेन सार्धं च व्यवहारो यथा-यथा ॥ १३ ॥

हस्तामलकवत्स स्वं प्रभावं परिचाययेत्।

प्रभावं तस्य माहात्म्यं द्रष्टुं सर्वत्र संभवेत् ॥ १४ ॥

जीवनं भरितं नूनमनुदानैरजस्त्रगैः।

येषां सदुपयोगेन परिणामाः समुत्सहाः ॥ १५ ॥

टीका—पिप्पलाद बोले जिज्ञासु शृंगी ऋषि समेत सभी उपस्थित मनीषिगण ध्यानपूर्वक सुनो, जीवन देवता प्रत्यक्ष फलदायक है। उसके साथ किया गया व्यवहार हस्तामलकवत् अपने प्रभाव का तत्काल परिचय देता है। उनका प्रभाव माहात्म्य हर कहीं दृष्टि पसार कर तत्काल देखा जा सकता है। जीवन अजस्र अनुदानों से लदा है। उनका सदुपयोग करने भर से उत्साहवर्द्धक परिणाम प्राप्त होते हैं ॥ १२-१५ ॥

व्याख्या—किसी भी बहुमूल्य वस्तु को श्रृंगारदान में सजाकर सुरक्षित रख दिया जाए तो उसकी उपयोगिता कहाँ रही? यदि इसके बदले में इससे प्राप्त धन को कहीं परमार्थ कार्य हेतु खर्च किया जाए तो पुण्य और यदि मूलधन के रूप में जमा कर दें तो ब्याज के रूप में राशि मिलने लगती है। जीवन देवता हर मनुष्य के भीतर बैठे हैं पर उनका प्रभाव व परिणाम तभी देखा जा सकता है जब अपनी दृष्टि चौड़ी की जाए। जीवात्मा की दूरदर्शिता एवं प्रामाणिकता इसी आधार पर परखी जाती है कि वह इस अनुदान को कितनी जिम्मेदारी व ईमानदारी के साथ प्रयुक्त करता है। जो परीक्षा में उत्तीर्ण होता है उसी को पदोन्नति होती है। जीवन संपदा के सदुपयोग की कसौटी पर खरे उतरने वाले ही भौतिक आत्मिक जगत में श्रेय के भागी बनते हैं।

भ्रांतेर्वशानुगास्तस्य महत्त्वं नैव मानवाः।

जानन्ति याः समाश्रित्योपलब्धीर्देवजीवनम् ॥ १६ ॥

जीव्यतेऽत्रामृतं यच्च प्रापयंत्यस्तान् तु तत्।

असंयमस्य छिद्रेभ्यश्चावयंतस्तु हंत ते ॥ १७ ॥

निम्बुकं च्युतनीरं तेऽनुगच्छंतस्तथैव च।

कंकालशेषकामास्ते दारिद्र्यं दूषयन्ति तु ॥ १८ ॥

टीका—भ्रांतिवश लोग उसका महत्त्व नहीं समझते और जिन उपलब्धियों के सहारे देव जीवन जिया जा सकता था, कितने दुःख की बात है उस अमृत को ऐसे ही असंयम के छिद्रों द्वारा बहाकर अस्त-व्यस्त करते रहते हैं। निचोड़े हुए

नीबू की तरह वे छूँछ बनकर रह जाते हैं और दरिद्रता का रोना रोते हैं ॥ १६-१८ ॥

व्याख्या—यह एक विडंबना ही है कि जिस अमृत को अपने अंदर मनुष्य धारण किए हैं उसे सतत गँवाता है और फिर अपने इस अभाव दुर्भाग्य पर पछताता रोता भी है। भगवान् ने तो इसे यह संपदा इसलिए दी थी कि संयम द्वारा इसे संचित कर उसका सदुपयोग सुनियोजन कर वह अपना जीवन धन्य बनाता पर उस अज्ञान भ्रांति को क्या कहें जो मनुष्य को पशुओं जैसा शिशुनोदर परायण जीवन जीने को विवश कर देती है।

जीवनं कामधेनुर्गौः पातुं दुग्धं तदीयकम्।

कठिनं नो संरंध्रेषु पात्रेषु यदि दृश्यते ॥ १९ ॥

तर्हि सौभाग्यलाभस्तु कथं तस्याप्तुमिष्यते।

असंयमस्य छिद्राणि रोद्धुं शक्यानि चेत्तदा ॥ २० ॥

हानिः सा न भवेद्यस्याः कारणादीश्वरेण ना।

निर्मितः सर्वसंपन्नो दरिद्रातीह दीनवत् ॥ २१ ॥

संघर्षस्थेयशक्तिः सा क्षीयते तु यतस्ततः।

मानवः सहते कष्टान्यनेकानि च सर्वतः ॥ २२ ॥

टीका—जीवन कामधेनु गौ है। उसका दूध पाने में कोई कठिनाई नहीं है, किंतु यदि छेदों वाले पात्र में दुहा जाएगा तो उस सौभाग्य का लाभ किस प्रकार मिल सकेगा। असंयम रूपी छिद्रों को बंदकर देने से उस हानि से बचा जा सकता है, जिसके कारण ईश्वर द्वारा सर्व संपन्न बनाया हुआ मनुष्य दीन-दरिद्र बनकर रहता है और संघर्ष में खड़ा रहने की स्थिति समाप्त हो जाने के कारण अनेकानेक कष्ट सहता है ॥ १९-२२ ॥

व्याख्या—मनुष्य को विधाता ने प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जी सकने योग्य बनाया है। यह सामर्थ्य जीवट कहलाती है और इसका संचय कर सकना हर किसी के लिए संभव है। जीवन एक युद्धस्थली है जिसमें मनुष्य को सतत कामुक-प्रतिकूल विचारों से लेकर चिरसंचित प्रवृत्तियों तक एवं ऋतु काल की बदलती परिस्थितियों से लेकर वातावरण में अस्वाभाविक परिवर्तन से जूझना पड़ता है। जीवनी शक्ति, जो उसे मानसिक रूप से लड़ सकने योग्य साहसी एवं उसके शरीर संस्थान को रोगी होने से बचाती है एक ही अनुदान की परिणति है संयम। जो इसे अपनाता है, वह न रोगी होता है न दुःखी, जीवन संग्राम में कभी पराजित नहीं होता तथा विच्छृंखलित अस्तव्यस्त विचार उसे प्रभावित नहीं कर पाते।

संयम एवं संघर्ष एक दूसरे के पर्यायवाची हैं तथा असंयम की परिणति ही दीन-दरिद्रता, रोग-शोको के रूप में होती है। जीवन देवता की उपासना तब ही भली प्रकार संभव है

जब अपना जीवन रसों को व्यर्थ बहाना छोड़कर मनुष्य उन्हें सृजनात्मक चिंतन व कर्तृत्व में नियोजित करे।

शृंगी उवाच

ऋषिः शृङ्गी पप्रच्छातः परं कतिविधानि तु।

असंयमस्य छिद्राणि भगवन्भिमत्तानि ते ॥ २३ ॥

कथं तेभ्यो जीवनस्य रसश्च्योतति मानवाः।

गृह्णन्त्यसंयमं किं ते परिणामान् विदंति नो ॥ २४ ॥

विबोधय रहस्यं मे भूतलं स्वर्गतां व्रजेत्।

समाप्तिं दुःखदारिद्र्यं येन गच्छेच्च सर्वथा ॥ २५ ॥

टीका—शृंगी ऋषि ने फिर पूछा भगवन् वे असंयम रूपी छिद्र कितने प्रकार के हैं और उनमें होकर किस प्रकार जीवन रस निचुड़ जाता है। इस असंयम को लोग किस निमित्त अपनाते हैं और उसके दुष्परिणामों को क्यों नहीं समझ पाते? इस रहस्य को समझाएँ ताकि यह भूतल स्वर्ग हो जाए तथा दुःख दारिद्र्य सर्वथा समाप्त हो जाए ॥ २३-२५ ॥

व्याख्या—ऋषि की आतुरता मानव मात्र को सुखी तथा धरती को स्वर्गोपम परिस्थितियों से परिपूर्ण दीखने की है। इसी जिज्ञासावश वे पूछते हैं कि मनुष्य क्यों और किस प्रयोजन से इस गर्त में जा गिरता है। बुद्धिबल शरीर बल से संपन्न होते हुए भी वह असंयमजन्य हानियों को क्यों नहीं समझता?

ऐसी ही जिज्ञासा असुरों द्वारा बारंबार पराजित होने पर देवगणों ने प्रजापति से की थी।

पिप्पलादः प्रशमयन्मौक्त्युक्तं सारगर्भितम्।

उत्तरं प्राददात्तत्र वाचा संयतया ततः ॥ २६ ॥

पिप्पलाद उवाच

प्रसन्नमुद्रयोवाच संपदो जीवनस्य तु।

क्षेत्राणि संति चत्वारि श्रूयतां तन्मुनीश्वराः ॥ २७ ॥

शक्तिरिन्द्रियसंबद्धा शक्तिः समयसंयुता।

विचारशक्तिस्तुर्या च शक्तिः साधनरूपिणी ॥ २८ ॥

आद्यास्तिस्त्रः प्रदत्तास्ता ईश्वरेण प्रयत्नतः।

तिसृणां भौतिके क्षेत्रेतुर्याऽर्ज्या पौरुषाश्रया ॥ २९ ॥

टीका—पिप्पलाद ने उत्सुकता को समाधान करने वाला सारगर्भित उत्तर सुसंयत वाणी में दिया। महाप्राज्ञ पिप्पलाद प्रसन्नमुद्रा में बोले जीवन संपदा के चार क्षेत्र हैं, उन्हें सुनि (१) इंद्रिय शक्ति (२) समय शक्ति (३) विचार शक्ति और (४) साधन शक्ति। प्रथम तीन ईश्वर प्रदत्त हैं, चौथी को इन तीनों के संयुक्त प्रयत्न से भौतिक क्षेत्र में पुरुषार्थ द्वारा अर्जित किया जाता है ॥ २६-२९ ॥

व्याख्या—जीवन संपदा के दो मूल विभाजन महाप्राज्ञ बताते हैं कि इंद्रिय समय, विचार शक्ति के रूप में जीवन देवता के माध्यम से मनुष्य को दैवी विभूतियाँ मिली हैं। जो

१.३० प्रज्ञोपनिषद्

भी इन्हें दैवी संपदा मानता है वह उतने महत्त्व भी देता है, कभी अपव्यय नहीं करता। साधना शक्ति न भी हो तो वह इन तीन के माध्यम से अर्जित की जा सकती है। शारीरिक सामर्थ्य वाणी का सही उपयोग समय संपदा का सुनियोजन तथा विचारों के बिखराव को रोककर एक ही उद्देश्य पर केंद्रित करने पर अभावों से भरे संसार में रहते हुए भी व्यक्ति साधन एकत्र कर लेता है। साधन शक्ति इसी कारण भौतिक लौकिक सामर्थ्य मानी गई है तथा शेष तीन मनुष्य की अपनी विशिष्ट विरासत हैं जो भगवान ने उसे बड़ा सोच समझकर सदुपयोग करने के लिए ही प्रदान की हैं।

इंद्रियेषु दशस्वेव प्रधाने द्वे तथेन्द्रिये।

जिह्वोपस्थेति संज्ञेचाहारंजिह्वाविवेकतः ॥ ३० ॥

गलाधश्चारयत्येषा शब्दानुच्चारयत्यपि।

रतिकर्मास्त्युपस्थस्य संततेः कारणात्तथा ॥ ३१ ॥

स्त्रावत्यागः संयमस्तु जिह्वायास्तनुस्वास्थ्यदः।

मनोबलं तथाऽक्षुण्णं जननेन्द्रियसंयमात् ॥ ३२ ॥

जिह्वाऽसंयमोऽजीर्णो दौर्बल्यं वर्धते यतः।

रतिकर्मणि तथाऽऽतुर्यमयोग्यां संततिं तथा ॥ ३३ ॥

यौनरोगांश्चिन्तनं च विकृतं वर्धयत्यलम्।

उभयासंयमे स्वास्थ्यं शरीरं मानसं पतेत् ॥ ३४ ॥

टीका—दस इंद्रियों में दो प्रधान हैं एक जिह्वा दूसरी जननेंद्रिय। जिह्वा आहार को जाँच परखकर गले के नीचे उतारने और वार्त्तालाप के लिए शब्दोच्चारण के काम आती है। जननेंद्रिय का कार्य संतानोत्पादन के लिए रतिकर्म तथा स्त्रावों का परित्याग है। जिह्वा संयम शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी है और जननेंद्रिय संयम से मनोबल अक्षुण्ण रहता है। जिह्वा के असंयमी होने से अपच होता है और दुर्बलता व रुग्णता बढ़ती है। रतिकर्म में आतुरता होने से अनुपयुक्त संतान, यौन रोग एवं विकृत चिंतन का दौर बढ़ता है। दोनों का असंयम रहे तो शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होकर रहता है ॥ ३०-३४ ॥

व्याख्या—जिह्वा से हम स्वाद को दृष्टि में रख भोजन ग्रहण करते हैं तथा बोलते समय क्या सही, क्या गलत इसका ध्यान नहीं रखते तो यह रसना का असंयम एवं वाणी का असंयम कहलाता है। जिह्वा का शरीरगत स्वास्थ्य से सीधा संबंध है। जिह्वा स्वाद की प्रधानता देकर ऐसे पदार्थ खाती रहती है जो अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी हैं। स्वाद में मात्रा बढ़ती है फलतः पेट खराब होता है व असंख्यों रोग खड़े होते हैं।

संयमे समयस्यापि शैथिल्ये मानवस्ततः।

अलसश्च प्रमादी च भवत्येतदवेहि तु ॥ ३५ ॥

क्रियतेऽनियमितं यत्तदपूर्णं शिष्यते ध्रुवम्।

समयस्योपयोगस्तु योजितेन श्रमेण हि ॥ ३६ ॥

अलसो व्यस्त व्यक्तित्वो दीर्घजीवी भवन्नपि।

आत्मजीविसमा नैव भवन्त्यस्योपलब्धयः ॥ ३७ ॥

टीका—समय संयम में शिथिलता रहने से मनुष्य आलसी प्रमादी बनता है ऐसा समझो। आलसी अस्त-व्यस्त बहुत दिन जीने पर भी आत्मजीवियों जितनी उपलब्धियाँ अर्जित नहीं कर पाता है। नियमितता न रहने से जो किया जाता है वह आधा-अधूरा रहता है। समय का सदुपयोग सुनियोजित श्रम से ही किया जा सकता है ॥ ३५-३७ ॥

व्याख्या—आलस्य का अर्थ है शारीरिक श्रम से बचना तथा प्रमाद मानसिक जड़ता का नाम है। शरीरबल होते हुए भी व्यक्ति श्रम से जी चुराए तो उसे प्रमादी कहेंगे। हमारे सबसे समीपवर्ती शत्रु यही हैं, जो काल देवता की अवहेलना स्वरूप जन्म लेते हैं और जीवन संपदा का क्षय करते रहते हैं। समय का असंयम ही दोनों का मूल कारण है।

योजनाबद्धरूपेण कार्यनिर्धारणं यदि।

तत्कालेन च निर्वाहाद् विज्ञाः साफल्यमाययुः ॥ ३८ ॥

समयाऽसंयमा ये तु ते भवन्त्यल्पजीविनः।

वरमायुः किमप्यास्तां तेषां नृणां विचार्यताम् ॥ ३९ ॥

ईश्वरेणप्रदत्तं समयस्य तु संपदा।

योजयेत्तां श्रमेणाथ मनोयोगेन भूयसा ॥ ४० ॥

विभिन्नाः संपदाश्चापि विभूतीरर्जितुं क्षमाः।

समयो जीवनं तच्च नाशयन्नश्यति स्वयम् ॥ ४१ ॥

टीका—योजनाबद्ध कार्य निर्धारण करने और उसका तत्परतापूर्वक निर्वाह करने से ही विज्ञान अनेकानेक सफलताएँ अर्जित करते हैं। समझ लो कि समय के असंयमी ही अल्पजीवी कहलाते हैं, भले ही उनकी आयु कुछ भी हो। समय ईश्वर प्रदत्त संपदा है। उसे श्रम मनोयोगपूर्वक नियोजित करके विभिन्न प्रकार की संपदाएँ, विभूतियाँ अर्जित की जाती हैं। जो समय गँवाता है उसे जीवन गँवाने वाला कहा जाता है ॥ ३८-४१ ॥

सूक्ष्मस्तरस्य कर्मास्ति विचारः कार्यरूपकः।

युन्यात्सत्सु विचाराणां प्रवाहं समयं यथा ॥ ४२ ॥

उपयोगिनां विचाराणामुत्कृष्टानां च सीम्नि चेत्।

चिंतनं सीमितं याति ह्युद्देश्ये सृजनात्मके ॥ ४३ ॥

महत्त्वपूर्णान्येतानि भूयः प्रतिफलानि च।

उत्पादयन्ति गृह्णन्ति दिशां यां जितमानसाः ॥ ४४ ॥

सफलास्तत्र जायन्ते विचाराणाममूलता।

अस्तव्यस्तता चापि विक्षिप्तत्वं हि मन्यताम् ॥ ४५ ॥

टीका—विचार सूक्ष्म स्तर का कर्म है। कार्य का मूल रूप विचार है। समय की तरह विचार प्रवाह को भी सत्प्रयोजनों में निरत रखा जाए उपयोगी उत्कृष्ट विचारों की मर्यादा में

चिंतन को सीमाबद्ध रखने से वे सृजनात्मक प्रयोजनों में लगते हैं और महत्त्वपूर्ण प्रतिफल उत्पन्न करते हैं। मनोनिग्रह के अभ्यासी जिस भी दिशा को अपनाते हैं, उसी में सफल होकर रहते हैं। विचारों की अनगढ़, अस्त व्यस्तता एक प्रकार की विक्षिप्तता है ॥ ४२-४५ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार समय को योजनाबद्ध कर सफलता पाई जाती है उसी प्रकार विचार प्रवाह को भी सुनियोजित कर लक्ष्य विशेष से जोड़कर लौकिक व आत्मिक जगत में लाभांशित हुआ जा सकता है। मनुष्य के जो भी बहिरंग में कर्म दिखाई देते हैं वे विचारों की ही परिणति हैं। जो जैसा सोचता है और करता है, वह वैसा ही बन जाता है। इस उक्ति को सदैव स्मरण रखना चाहिए।

क्षीवानिव शुनो नैव विचारान्मनुजः क्वचित्।

अचिंत्यचिंतने व्यर्थ दिशाहीनान्नियोजयेत् ॥ ४६ ॥

तान् सदैवोपयोगिन्या दिशया धारयाऽपि च।

नियोजयेद् विचारैश्चामूलैर्योऽद्भुमनैतिकैः ॥ ४७ ॥

सद्विचारचमूः काचिद् भवेद् याऽचिंत्यचिंतनैः।

विचारैर्युद्ध्यमानेव तांस्तु विद्रावयेद्द्रुतम् ॥ ४८ ॥

टीका—विचारों को आवारा कुत्तों की तरह अचिंत्य-चिंतन में भटकने न दिया जाए। उन्हें हर समय उपयोगी दिशा धारा के साथ नियोजित करके रखा जाए। अनगढ़ अनैतिक विचारों से जूझने के लिए सद्विचारों की एक सेना बनाकर रखी जाए, जो अचिंत्य-चिंतन उठते ही जूझ पड़ें और उन्हें निरस्त करके भगा दें ॥ ४६-४८ ॥

व्याख्या—विचार संयम का सबसे अच्छा तरीका है, उन्हें बिखराव से रोककर उत्कृष्ट उद्देश्य के साथ जोड़ दिया जाए। इसके लिए अपने अंदर भी एक विरोधी विचारों की सेना उसी प्रकार खड़ी करनी होगी जैसा कि विजातीय द्रव्यों के शरीर में प्रविष्ट होने पर रक्त के कण खड़ी कर देते हैं। निकृष्ट विचारों व उत्कृष्ट चिंतन की परस्पर लड़ाई ही अंतर्जगत का देवासुर संग्राम है। विचारों की विचारों से काट कर बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। इसलिए अनिवार्य है कि कुविचारों को सद्विचारों से काटने का महाभारत अहर्निश जारी रखा जाए। विचारों के लिए उपयोगी मर्यादा एवं दिशाधारा निर्धारित की जाए जिनमें अभीष्ट प्रयोजन अथवा मनोरंजन के लिए परिभ्रमण करते रहने की छूट रहे। चिड़ियाघरों में जानवरों के लिए बाड़ा होता है उन्हें घूमने-फिरने के लिए छूट तो रहती है, पर उस बाड़े से बाहर नहीं जाने दिया जाता। ठीक यही नीति विचार वैभव के बारे में भी बरती जाए। उसे जहाँ-तहाँ बिखरने न दिया जाए।

परिश्रममनोयोग स्यास्ति वित्तं फलं ध्रुवम्।

प्रत्यक्षं, नीतियुक्तं तु वित्तमेतदुपार्जयेत् ॥ ४९ ॥

देशवासिजनानां च स्तरं हि प्रति पूरुषम्।

गृह्णन् स्वकीयनिर्वाहः स्वीकर्तव्यः सदैव च ॥ ५० ॥

मितव्ययित्वमागृह्णन् योग्यतामत्र वर्धयन्।

सदाशयत्वमार्गेण भरितव्यास्तु दुर्बलाः ॥ ५१ ॥

टीका—परिश्रम एवं मनोयोग का प्रत्यक्ष फल धन है। नीतिपूर्वक कमाया और औसत देशवासी के स्तर का निर्वाह अपनाते हुए बचत की योग्यता को बढ़ाने, सदाशयता को अपनाने एवं असमर्थों की सहायता करने में लगाना चाहिए ॥ ४९-५१ ॥

व्याख्या—भौतिक हो या आत्मिक प्रगति दोनों ही क्षेत्र के पथिक को अपव्यय की तनिक भी छूट नहीं है। प्रश्न यह नहीं कि पैसा अपना है या पराया, मेहनत से कमाया या मुफ्त में मिला है, उसे हर हालत में जीवनोपयोगी, समाजोपयोगी सामर्थ्य मानना चाहिए और एक-एक पाई का उपयोग मात्र सत्प्रयोजनों हेतु ही होना चाहिए।

श्रम, समय एवं मनोयोग से तीन सूक्ष्म संपदाएँ भगवत् प्रदत्त हैं इन्हीं का प्रत्यक्ष स्थूल फल धन है। तथ्यतः धन को काल देवता एवं श्रम देवता के सम्मिलित अनुदान मानना चाहिए। जैसी दूरदर्शिता समय के अपव्यय के लिए बरतने को कहा जाता है वैसी ही धन की बरबादी पर भी लागू हो। बचाया धन सदैव परमार्थ में लगे।

अपव्ययेन चैवाथानावश्यकसुसंग्रहैः।

नैकधोत्यद्यते भूयो दुष्प्रवृत्तिस्ततः क्रमात् ॥ ५२ ॥

अपव्ययेन मन्येते दुष्प्रवृत्तिरनेकधा।

क्रीणांति चात्मनोऽन्येषामहितं कुर्वते भूशम् ॥ ५३ ॥

टीका—बुद्धिमानी की सही परख यही है कि जो भी कमाया जाए, उसका अनावश्यक संचय अथवा अपव्यय न हो। जो उपार्जन को सदाशयता में नहीं नियोजित करता वह घर में दुष्प्रवृत्तियाँ आमंत्रित करता है। लक्ष्मी उसी घर में बसती हैं, फलती हैं जहाँ उसका सदुपयोग हो। आडंबरयुक्त प्रदर्शन, फैशनपरस्ती, विवाहों में अनावश्यक खर्च, जुआ जैसे दुर्व्यसन ऐसे ही घरों में पनपते हैं, जहाँ उपार्जन के उपयोग पर तो ध्यान नहीं दिया जाता, उपभोग पर नियंत्रण नहीं होता। भगवान की लानत किसी को बदले में लेनी हो तो धन को स्वयं अपने ऊपर अनाप-शनाप खर्च कर अथवा दूसरों पर अनावश्यक रूप से लुटाकर सहज ही आमंत्रित कर सकता है।

ऐसे उदाहरण आज के भौतिकता प्रधान समाज में चारों ओर देखने को मिलते हैं। परिवारों में कलह तथा सामाजिक अपराधों की वृद्धि का एक प्रमुख कारण अपव्यय की प्रवृत्ति भी है।

समुद्र संचय नहीं करता, मेघ बनकर बरस जाता है तो

१.३२ प्रज्ञोपनिषद्

बदले में नदियाँ दूना जल लेकर लौटती हैं। यदि वह भी कृपण हो संचय करने लगता तो नदियाँ सूख जातीं अकाल छा जाता और यदि अत्यधिक उदार हो घरघोर बरसने लगता तो अतिवृष्टि की विभीषिका आ जाती। अतः समन्वित नीति ही ठीक है।

धनार्जने यथा बुद्धेरपेक्षा व्ययकर्मणि।

ततोऽधिकैवसापेक्षया तत्रौचित्यस्य निश्चये ॥ ५४ ॥

टीका—धन कमाने में जितनी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता पड़ती है, उससे अनेक गुनी व्यय के औचित्य का निर्धारण करते समय लगनी चाहिए ॥ ५४ ॥

व्याख्या—सही तरीके से कमाना व सही कामों में औचित्य-अनौचित्य का ध्यान रखकर खर्च करना ही लक्ष्मी का सम्मान है। इसीलिए अर्थ संतुलन के मितव्ययिता पक्ष को प्रधानता दी जाती है। ध्यान यही रखा जाए कि जो भी बचाया जाए उसको उचित प्रयोजनों में नियोजित कर दें।

उपेक्षानार्जनेकार्या न चानीतिर्व्यये तथा।

समान्यता साधुता सत्परिणामान् विचिंतयेत् ॥ ५५ ॥

अन्यथा घातका सिद्धयत्यलं संपन्नता तु सा।

दारिद्र्यापेक्षया नूनं समाजस्तेन दूष्यते ॥ ५६ ॥

टीका—कमाने में न उपेक्षा की जाए, न अनीति बरती जाए। खर्च करने में सादगी, सज्जनता एवं सत्परिणामों की जाँच पड़ताल रखी जाए। अन्यथा संपन्नता दरिद्रता से भी अधिक घातक सिद्ध होती है और इससे समाज में दूषित परंपराएँ पनपती हैं ॥ ५५-५६ ॥

व्याख्या—यह सोचना कि हम भगवान के पुत्र हैं कहीं न कहीं से वह हमारी व्यवस्था करेगा ही, अतः कमाना जरूरी नहीं, गलत दृष्टिकोण है। इसी प्रकार अधिक के लालच में नीति-अनीति का ध्यान न रख चाहे जैसे उपार्जन कर लिया जाए यह भी गलत है। इस प्रकार अर्जित संपदा अंततः व्यक्ति के लिए हानिकारक एवं अनावश्यक उपभोग के लिए भी दुष्परिणाम उत्पन्न करने वाला होता है।

धन को लक्ष्मी भी कहते हैं, माया भी। सत्प्रवृत्ति में लगे तो ही लक्ष्मी नाम सार्थक है। अपव्यय किया जाए अनीति के कार्यों में खर्च हो तो यह माया है। माया का नाश भी सदैव ऐसे ही होता है।

शृंगी उवाच

महाभाग यथाप्रोक्तं भवता तच्चतुष्टयम्।

असंयमस्य रूपं यत्तन्निवर्तेत चेत्तदा ॥ ५७ ॥

आराधना जीवनस्य देवताया समग्रताम्।

गच्छत्यभीष्टसिद्धिः किं ततः प्राप्नोति मानवः ॥ ५८ ॥

अतोऽतिरिक्तं वा किंचित्कर्तव्यमवशिष्यते।

तन्नः शुश्रूषमाणानां भवानर्हति शंसितुम् ॥ ५९ ॥

टीका—शृंगी ऋषि ने फिर पूछा हे महाभाग क्यों आपके द्वारा बताए गए चार प्रकार के असंयम रुक जाने से देवता की आराधना समग्र हो जाएगी और उससे अभीष्ट फल मिलने लगेगा या इसके अतिरिक्त कुछ और भी करना होगा? यह आप हम सुनने को उत्सुक व्यक्तियों को बतावें ॥ ५७-५९ ॥

पिप्पलाद उवाच—

अयं त्वपव्ययस्यास्ति निरोधः केवलं यतः।

उपलब्धसंपदागते पतेन्नापव्ययात्मके ॥ ६० ॥

विनाशकारिणो नैव परिणामान् समुत्सृजेत्।

उपयोगोऽर्जितस्यापि महत्त्वं सत्सुयोजनम् ॥ ६१ ॥

सामर्थ्यपरिणामास्तस्ततः श्रेयोविधायकान्।

उत्पादयति चेदस्तव्यस्ततायाः सुरक्षितम् ॥ ६२ ॥

अनुपयुक्ततायाश्च यदि तद्रक्षितं भवेत्।

प्रयोजनेषु सत्सूपयुज्येत सृजकेषु चेत् ॥ ६३ ॥

टीका—महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा, भद्र यह तो अपव्यय की रोकथाम भर कही गई है ताकि उपलब्ध संपदा अपव्यय के गर्त में गिरकर विनाशकारी परिणाम उत्पन्न न करे। महत्वपूर्ण कार्य तो इस बचत के सदुपयोग और सुनियोजन का है। सामर्थ्य तभी श्रेयस्कर परिणाम उत्पन्न करती है, जब उसे अस्त-व्यस्तता एवं अनुपयुक्तता से बचाकर सृजनात्मक सत्प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया जाए ॥ ६०-६३ ॥

व्याख्या—संयम निषेधात्मक नहीं विधेयात्मक गुण है। इसका एक पक्ष जहाँ अनावश्यक अपव्यय को रोकना है वहाँ दूसरी ओर उसे सृजनात्मक कार्यों हेतु नियोजित करना भी है। एक पूर्वाद्ध है, दूसरा उत्तराद्ध। निरोध न हो व सुनियोजन के प्रयास चलें तो व्यर्थ हैं। निरोध हो व नियोजन कहीं न हो तो वह संचय भी बेकार है।

जिज्ञासु शृंगी ऋषि का समाधान करते हुए महर्षि पिप्पलाद कहते हैं कि संयम पर टिक न पाने का कारण है, उसका स्वरूप न समझ पाना। स्वरूप न समझ पाने से वे उसी तरह फँस जाते हैं, जैसे अँधेरी रात में मार्ग में भरे पानी को सूखी जमीन समझकर व्यक्ति उसमें पैर फँसा देता है। स्वरूप समझना कठिन नहीं है, परंतु उसके लिए मनुष्य पूरा प्रयास नहीं कर पाता, क्योंकि उसका महत्त्व नहीं समझता। स्वरूप और महत्त्व समझने के लिए आवश्यक उद्योग न कर पाना भी असंयम की वृत्ति की ही प्रतिक्रिया है। अस्तु जो संयम का लाभ लेना चाहें वे उसका स्वरूप और महत्त्व समझें।

जीवनं त्वथ कार्यं च पूरकं तु परस्परम्।

दृष्ट्वा कार्यस्तरं मेयं साफल्यं जीवनस्य हि ॥ ६४ ॥

श्रममात्रं न पर्याप्तं तं तु चौराश्चगर्दभाः।

अपि कुर्वत्यथोच्चैस्तु सदुद्देश्यैर्हि यान्यहो ॥ ६५ ॥

कर्तव्यानि निबद्धानि तेषामेवानुपालनम्।

कर्मयोग इति प्रोक्तोः येन विश्वंभरो भवेत् ॥ ६६ ॥

टीका—जीवन और कार्य एक दूसरे के पूरक हैं। कार्य के स्तर को देखकर ही जीवन की सफलता आँकी जाती है। मात्र श्रम पर्याप्त नहीं, वह तो गधे और चोर भी करते हैं। उच्च उद्देश्यों से जुड़े हुए कर्तव्य पालन का दूसरा नाम कर्मयोग है, जिससे मानव विश्वंभर कहलाता है ॥ ६४-६६ ॥

व्याख्या—किसी भी काम की सफलता का मापदंड यह नहीं कि उसकी परिणति क्या हुई, वरन् यह है कि वह किस प्रकार संपादित हुआ और उसमें मनोयोग लगा या नहीं। समुचित तत्परता और स्फूर्ति ही श्रम को सार्थक तथा हाथ में लिए कार्य को सफल बनाते हैं।

सदुद्देश्य-सुपूर्त्यर्थ योगसाधनवत् सदा।

कर्मकर्तव्यमत्रास्ति नहि चेत्सफलस्ततः ॥ ६७ ॥

सदुद्देश्य-सुपूर्ण यत्तद्धि कर्तव्यपालनम्।

कुर्वन्नरः सुसन्तोषं लभते चात्मगौरवम् ॥ ६८ ॥

प्रयोजनेषु साफल्यं दूषितेषु लभेत चेत्।

तथापि सहते लोकभर्त्सनामात्मताडनाम् ॥ ६९ ॥

टीका—कर्म को सदुद्देश्यों की पूर्ति के लिए योग-साधना की तरह किया जाना चाहिए। असफल रहने पर भी सदुद्देश्यपूर्ण कर्तव्य पालन से संतोष और गौरव मिलता है, जबकि दुष्ट प्रयोजनों में सफलता मिलने पर भी आत्म प्रताड़ना और लोक भर्त्सना सहनी पड़ती है ॥ ६७-६९ ॥

व्याख्या—कर्म तो सभी करते हैं पर जब वह सदुद्देश्यों से जुड़ जाता है तो योग बन जाता है। मनोयोग पूर्वक किया गया यही कर्म योग-साधना के समतुल्य है। जागरूकता, तत्परता एवं श्रेष्ठता को लक्ष्य रूप में वरण इसी को कर्तव्य पालन कहते हैं, सफलता इसका मापदंड नहीं है।

तात मानव आबद्धो दायित्वैर्बहुभिर्यथा।

शारीरं स्वास्थ्यमेतत्तन्मनः सन्तुलनं तथा ॥ ७० ॥

परिवारसुसंस्कारित्वं समाजस्य तत्तथा।

प्रतिदानं सुरक्षा च शालीनत्वस्य संस्कृतेः ॥ ७१ ॥

दायित्वैर्बहुभिर्बद्ध एभिर्मानव एष तु।

निर्वाह एषां कर्तव्यपालनं परिकीर्तितम् ॥ ७२ ॥

पारायणं तु कर्तव्यस्यास्ति धार्मिकता ध्रुवम्।

एतत्तु धर्मवेत्तृणां परिभाषितमुत्तमम् ॥ ७३ ॥

टीका—हे तात मनुष्य अनेक उत्तरदायित्वों से बँधा है। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन परिवार की सुसंस्कारिता, समाज का ऋण चुकाना, संस्कृति और शालीनता की सुरक्षा जैसे अनेक जिम्मेदारियों से मनुष्य बँधा है। इनके निर्वाह को कर्तव्य पालन कहते हैं। कर्तव्यपरायणता ही धार्मिकता है। यही धार्मिकता की धर्मवेत्ताओं द्वारा की गई उत्तम परिभाषा है ॥ ७०-७३ ॥

व्याख्या—धर्म का अर्थ है अपने सांसारिक और आध्यात्मिक दायित्वों का भली भाँति निर्वाह। धर्म संप्रदाय का पर्यायवाची नहीं, जैसा कि बहुसंख्यक व्यक्तियों ने समझ रखा है। धर्म का शाब्दिक अर्थ है धारण करना। किसे? श्रेष्ठता को जीवन में, ताकि लौकिक जीवन में समृद्धि सामूहिक विकास और आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो।

कर्ममात्रं श्रमो नास्ति तेनोच्चैस्तरकस्य हि।

मनोयोगस्य भाव्यं च समावेशेन तद्वत् ॥ ७४ ॥

उत्कृष्टता तु कार्यस्य कृते तु स्वाभिमानिनः।

गर्वस्य गौरवस्यापि विषय इति बोध्यताम् ॥ ७५ ॥

उपेक्षयोन्मनस्केन कृतं कार्यं निरर्थकम्।

भवत्येव तथा कर्तुरपकीर्तिकरं च तत् ॥ ७६ ॥

कर्तव्यं यदमुष्मिंश्चेत्समावेशो द्वयोरपि।

एकाग्रताभिरुच्योस्तत्कर्मैतीशार्चनास्तरम् ॥ ७७ ॥

टीका—कर्ममात्र श्रम नहीं, उसके साथ उच्चस्तरीय मनोयोग का तन्मय समावेश होना चाहिए। कार्य की उत्कृष्टता हर स्वाभिमानी के लिए गर्व गौरव का विषय है यह समझ लो। उपेक्षापूर्वक अन्यमनस्क होकर किया गया काम निरर्थक ही नहीं जाता, कर्ता को बदनाम भी करता है। जो भी किया जाए उसमें पूरी अभिरुचि और एकाग्रता का समावेश हो तभी वह उस स्तर का कार्य कहा जा सकेगा, जिसे ईश्वर पूजा के समतुल्य माना जाता है ॥ ७४ ॥ ७७ ॥

व्याख्या—कर्म कौशल हर स्वाभिमानी के लिए गौरव का विषय होता है। हर अच्छे काम ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा संपन्न हुए हैं। जिन्होंने अपनी क्रिया-कुशलता को उत्कृष्टता की सीमा तक पहुँचाकर श्रम किया है।

संत रैदास की चमड़ा भिगोने की कठौती में गंगा प्रकट हुई थी, उसका कारण यही था कि वे अपने कार्य में ईश्वर आराधना जितनी ही तन्मयता और सरसता अनुभव करते थे। कबीर कपड़ा बुनते हुए यही अनुभव करते थे कि आयु की हर साँस और समय का हर क्षण मिलाकर जीवन की चादर बुननी है। उनकी यह तन्मयता कार्य को भी उपासना बना देती थी। गाँधी जी चाहे प्रार्थना सभा में हों, या चाहे शौचालय साफ करें दोनों में पूरी तरह तन्मय हो जाते थे इसीलिए निर्मल जीवन के अधिकारी बने।

ध्वंसःसरल एनं च लघुरग्निकणोऽपि सः।

गलपितं कीलकं चापि कर्तुं तत्प्रभवेदलम् ॥ ७८ ॥

सृजनात्मककार्येषु गौरवं परिकीर्तितम्।

चिन्तनं मानवस्याथ प्रयासः सृजकेषु हि ॥ ७९ ॥

प्रयोजनेषुनिरतः सदा स्याज्जीवनस्य तु।

गरिम्णोऽनुमितिस्तत्र निकषोपमिते भवेत् ॥ ८० ॥

किं स्तरं कियदेतच्च कार्यं तु सृजनात्मकम्।

१.३४ प्रज्ञोपनिषद्

सम्पन्नं प्रतिभा या तु क्रियाकौशलजा तथा ॥ ८१ ॥

प्रखरता द्वयोरत्र प्रशंसाऽस्मिंस्तु वर्तते।

सत्प्रवृत्ति विवृद्धो तु ताभ्यामुपकृतं न वा ॥ ८२ ॥

टीका—ध्वंस सरल है। उसे छोटी चिंगारी एवं सड़ी कील भी कर सकती है। गौरव सृजनात्मक कार्यों में है। मनुष्य का चिंतन और प्रयास सृजनात्मक प्रयोजनों में ही निरत रहना चाहिए। जीवन की गरिमा इस कसौटी पर आँकी जाती है कि उसमें किस स्तर का कितना सृजनात्मक कार्य सफल हुआ। क्रिया-कौशल की जो भी प्रतिभा प्रखरता है, उसकी प्रशंसा इस बात में है कि उसके द्वारा सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में सहायता मिली या नहीं ॥ ७८-८२ ॥

व्याख्या—मनुष्य अपनी सृजनात्मक शक्ति के कारण ही वह पद गौरव पा सका है जो सृष्टि के अन्यान्य जीवधारियों को अप्राप्य है। कार्य का स्तर व क्रिया कौशल जब उत्कृष्ट सृजनशीलता से जुड़ जाते हैं तो करने वाले की गरिमा को और बढ़ा देते हैं। मनुष्य इस धरती को सुव्यवस्थित सुंदर बनाने आया है, बिगाड़ने, मिटाने नहीं, इस मूल प्रतिज्ञा से हटना मानवी गरिमा को गिराना है।

प्रतिभा या रताध्वंसे तस्यास्तु तुलना विधौ।

प्रशस्ता कथिताविज्ञैर्मूर्खता मंदबुद्धिजा ॥ ८३ ॥

यतोऽनया न कस्यापकार आचरितः क्वचित्।

सृजितं किंचिदेवाथ संशोधितमुतापि च ॥ ८४ ॥

पुरातन कुसंस्कराभ्यासान्निरसितुं नवैः।

उत्साहैः साहसैश्चापि युतं साधुप्रयोजनम् ॥ ८५ ॥

क्रियाकलापकेष्वेव दैनिकेषु सुमीलयेत्।

भूयो भूयोऽभिवर्द्धतीः प्रवृत्तीः पशुजास्तथा ॥ ८६ ॥

निरसितुं श्रमस्तूयः स्वीकर्तव्यो भवेत्तु ताः।

आत्मनाऽऽत्मनि संघर्ष अयमित्यभिमन्यताम् ॥ ८७ ॥

सर्वैरवारुणस्येयं ग्राह्या सदभूमिका सदा।

महाभारतसंग्रामे कर्मक्षेत्रेऽत्र मानवैः ॥ ८८ ॥

टीका—ध्वंसरत प्रतिभा की तुलना में विज्ञानों के

मतानुसार मंदबुद्धि मूर्खता अच्छी, जिसने किसी का बिगाड़ा नहीं, कुछ न कुछ बनाया—सुधारा ही। पुराने कुसंस्कारी अभ्यासों को निरस्त करने के लिए नए उत्साह, नए साहस पूर्वक सत्प्रयोजनों को दैनिक क्रियाकलाप में सम्मिलित करना पड़ता है और बार-बार उभरने वाली पशु प्रवृत्तियों को निरस्त करने के लिए कड़ा रुख अपनाना पड़ता है। यह अपने आप से जूझना है ऐसा जान लो। अर्जुन की भूमिका इस महाभारत में हर कर्मयोगी को निभानी पड़ती है ॥ ८३-८८ ॥

व्याख्या—जो प्रतिभाशाली हैं पर जिनकी बुद्धि कुमार्गगामी है, ध्वंस में नियोजित है, उनसे तो वह व्यक्ति श्रेष्ठ है जो कम से कम अल्पज्ञता के कारण किसी का कुछ बिगाड़ता तो नहीं। इन्हें सही दिशा देकर कम से कम उपकार की ओर तो प्रवृत्त किया जा सकता है, पर विनाश की ओर प्रेरित बुद्धि तो हर समय कुटिल चाल ही सोचती रहती है।

आरण्यकस्य सत्रस्य समाधानं तृतीयकम्।

सर्वेभ्योऽरोचतालं तद्देवं च जीवनं प्रति ॥ ८९ ॥

श्रद्धोद्गता च सकल्पः श्रोतॄणां हृदये ततः।

समुत्पन्नः जीवनं तु परमं दैवमित्यहो ॥ ९० ॥

मत्वा परिष्कृतं पूर्णं प्रसन्नं कर्मशक्तितः।

प्रसंग ईदृशोऽयं तु ज्ञातुं तत्राऽधिकाधिकम् ॥ ९१ ॥

औत्सुक्यं हि महर्षीणां तीव्रतामभजत्ततः।

श्वोऽधिकं ज्ञास्यते साशाः कालेऽयुः सौत्रिकाज्ञया ॥ ९२ ॥

टीका—आरण्यक सत्र का तीसरा समाधान सभी को बहुत रुचा। जीवन देवता के प्रति भी श्रोताओं में श्रद्धा उमंगी और संकल्प उभरा कि जीवन को परमदेव मानकर उसे प्रसन्न परिष्कृत करने में कुछ कमी न रखी जाएगी। प्रसंग ऐसा था जिसे अधिकाधिक जानने के लिए सम्मिलित ऋषियों की उत्सुकता अधिकाधिक प्रचंड होती जा रही थी। कल और अधिक सुनने को मिलेगा इस आशा के साथ नियत समय पर सभी सूत्र-संचालक की आज्ञानुसार विसर्जित हो गए ॥ ८९-९२ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः

श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि-संवादे संयमशीलताकर्तव्यपरायणता इति प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥